

जैनयोग का तत्त्वमीमांसीय आधार

डा. सुधा जैन

प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी...

दर्शन के प्रमुख तीन पक्ष होते हैं-तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और आचारमीमांसा। ये एक-दूसरे के अनुकूल तथा पूरक होते हैं। इनकी अनुकूलता से ही ज्ञात होता है कि ये एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। यदि ऐसा नहीं हो तो कोई भी दर्शन आत्मघाती सिद्ध होगा। इसी बात की स्पष्टता के लिए भारतीय दर्शन की कुछ शाखाओं को देखा जा सकता है--

चार्वाक दर्शन में सिर्फ भौतिक तत्त्वों को ही मान्यता प्राप्त है। उसमें ईश्वर आदि आध्यात्मिक तत्त्व नहीं हैं। चूंकि उसमें आध्यात्मिक तत्त्वों को अस्वीकार किया गया है, अतः वह केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है। क्योंकि भौतिक तत्त्वों का प्रत्यक्षीकरण होता है। इतना ही नहीं वह मानता है कि शरीर के नष्ट होते ही उसके साथ रहने वाली चेतना समाप्त हो जाती है, शेष कुछ नहीं रह जाता। अतः वर्तमान जन्म के अतिरिक्त पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मरने वाले व्यक्ति के लिए न मोक्ष, न स्वर्ग और न नरक होता है। जो कुछ है वह वर्तमान जीवन ही है, वर्तमान शरीर ही है। अतः चार्वाक दर्शन अपनी आचारमीमांसा के क्षेत्र में सुखवादी तथा तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में भौतिकवादी हो जाता है। उसका मानना है कि जब तक जीओ, सुखपूर्वक जीओ, ऋण लेकर भी घी मिल सके तो बिन संकोच के पीओ ताकि शरीर पुष्ट हो, स्वस्थ हो और तुम्हें दैहिक सुख मिले, क्योंकि शरीर नष्ट हो जाने वाला है, इसका फिर आना-जाना संभव नहीं है। चूंकि चार्वाक दर्शन की तत्त्वमीमांसा भौतिकवादी है, इसलिए उस पर आधारित प्रमाणमीमांसा प्रत्यक्षवादी तथा आचारमीमांसा सुखवादी है।

पातंजल योग की तत्त्वमीमांसीय व्याख्या में चित्त एवं उसकी वृत्तियों पर चिंतन हुआ है। चित्त की वृत्तियाँ होती हैं क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट। क्लिष्ट वृत्तियाँ अविद्या तथा अज्ञान उत्पन्न करती हैं, जिससे बंधन होता है। अतः आचारमीमांसा में योग को प्रधानता देते हुए कहा गया है-‘योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।’ अर्थात् चित्त वृत्ति को रोकना योग है। योग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अद्वैत वेदान्त में तत्त्वमीमांसा कहती है - ‘ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या’ अर्थात् ब्रह्म ही मात्र सत् है और जो जगत् के रूप में दिखाई पड़ता है, वह मिथ्या है, भ्रम है। भ्रम माया के कारण होता है। माया अज्ञान है, अविद्या है। आत्मा स्वतंत्र है, मुक्त है, किन्तु माया से आच्छादित हो जाने के कारण जीव के नाम से जाना जाता है, और बंधन-भागी हो जाता है। संसार व्यवहार रूप है, जो असत् है, सिर्फ परमार्थ या ब्रह्म ही सत् है। जब तक जीव व्यवहार में घुला मिला होता है, तब तक वह बंधन में होता है और व्यवहार से ऊपर उठकर जब वह परमार्थ से मिल जाता है तब उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अतः अद्वैत की आचारमीमांसा यह बताती है कि संसार को मिथ्या मानो और अपनी तथा ब्रह्म की एकता को पहचानो। जो तुम वही ब्रह्म है, जो ब्रह्म है वही तुम हो। यहाँ द्वैत नहीं सिर्फ अद्वैत है।

जैन दर्शन में भी ऐसी ही प्रक्रिया देखी जाती है अर्थात् उसमें भी तत्त्वमीमांसा से ज्ञानमीमांसा और आचारमीमांसा से आचारमीमांसा। फिर धर्म के क्षेत्र में आया जाता है। जैन दर्शन में द्रव्य परम तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। द्रव्य के प्रधानतः दो भेद होते हैं-अस्तिकाय और अनस्तिकाय। अस्तिकाय के पुनः दो विभाग देखे जाते हैं-जीव और अजीव। जीव स्वभावतः स्वप्रकाशित और पर प्रकाशक होता है। जीव स्वतंत्र होता है। वह अनन्त चतुष्टय का धारक होता है। सभी जीव समान होते हैं तो फिर अनेक प्रकार के जीव क्यों होते हैं? कोई जीव विकसित रूप में होता है तो कोई अविकसित रूप में ऐसा क्यों? इसका उत्तर जैन आचारमीमांसा देती है। जीवों में जो अंतर देखे जाते हैं वे कर्मानुसार होते हैं। कर्मानुसार ही कोई छोटा शरीर पाता है तो कोई बड़ा शरीर पाता है। जैन आचारमीमांसा अहिंसा का प्रबल समर्थन करती है। कहा जाता है-‘अहिंसा परमो धर्मः।’ ऐसा क्यों? चूंकि हिंसा से कष्ट होता है। आचारांग सूत्र में कहा गया है-सभी जीव सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता, सभी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। चूंकि हमें कष्ट होता है, जब

कोई किसी प्रकार से हम पर घात करता है तो हमें भी समझना चाहिए कि यदि हम किसी पर घात करेंगे तो उसको भी वैसा ही कष्ट होगा जैसा हमें होता है। क्योंकि सभी जीव समान हैं यह तत्त्वमीमांसा बताती है।

बौद्ध दर्शन में तत्त्वमीमांसीय समस्याओं की अवहेलना हुई है। बुद्ध ने उन लोगों को नासमझ कहा जो अपने को तत्त्वमीमांसीय समस्याओं में उलझा लेते हैं। उनका कहना है कि तत्त्वमीमांसा से कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं होता और न पूर्ण ज्ञान होता है। जिस प्रकार अंधों को हाथी का आंशिक ज्ञान प्राप्त होता है, क्योंकि वे हाथी के किसी एक अंग को ही छू पाते हैं, संपूर्ण हाथी को एक साथ नहीं छू पाते, उसी प्रकार तत्त्वमीमांसक आंशिक ज्ञान में ही उलझे रहते हैं। तत्त्वमीमांसा एक जाल है जिसमें व्यक्ति प्रतिदिन फँसता जाता है, उससे निकल नहीं पाता। उनके इस विचार की अभिव्यक्ति, ब्रह्मजाल सुत्त में देखी जाती है।^३ एक बार श्रावस्ती के जेतवन में विहार के अवसर पर मालुक्य पुत्र ने बुद्ध से लोक के शाश्वत - अशाश्वत, अन्तवान् होने तथा जीवदेह की भिन्नता-अभिन्नता के विषय में दस मेण्डक प्रश्नों को पूछा था जिसे बुद्ध ने अव्याकृत कहकर उसकी जिज्ञासा को शान्त कर दिया था।^४ इसी प्रकार पोट्टपाद परिव्राजक ने जब ऐसे ही प्रश्न किए तब बुद्ध ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा था न यह अर्थयुक्त है, न धर्मयुक्त है, न निरोध के लिए है, न उपशम के लिए है, न अभिज्ञा के लिए है, न संबोधि (परमार्थ ज्ञान) के लिए है और न निर्वाण के लिए है। इसलिए मैंने इसे अव्याकृत कहा है तथा मैंने व्याकृत किया है दुःख के हेतु को, दुःख के निरोध को तथा दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद को।^५ इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध ने आर्यसत्य यानी आचारमीमांसा से अपना चिंतन प्रारंभ किया है। किन्तु जब वे दूसरे आर्यसत्य का प्रतिपादन करते हैं तो उसमें प्रतीत्यसमुत्पाद आ जाता है जो बताता है कि एक के बाद दूसरा कारण उत्पन्न होता है। उससे परिवर्तनशीलता का बोध होता है। आगे चलकर परिवर्तनशीलता क्षणिकवाद का रूप ले लेती है अर्थात् हर क्षण परिवर्तन होता है। फिर अनात्मवाद तथा शून्यवाद के सिद्धान्त आ जाते हैं। इस तरह तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त प्रस्फुटित होते हैं, जो बौद्धाचार को प्रभावित करते हैं। निर्वाण की व्याख्या पर पूर्णतः बौद्ध तत्त्वमीमांसा का प्रभाव है। मध्यममार्ग को अपनाने की बात इसलिए है कि प्रतीत्यसमुत्पाद में बताया गया है कि

प्रत्येक वस्तु नित्य नहीं है, बल्कि नष्ट होती है, किन्तु नष्ट होकर पुनः जन्म लेती है। इस मान्यता में शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद दोनों का खंडन किया गया है, क्योंकि शाश्वतवाद मानता है कि जो नित्य है वह समाप्त नहीं होता और उच्छेदवाद मानता है कि वस्तु नष्ट होती है पर फिर उत्पन्न नहीं होती है।

जैन एवं बौद्ध दोनों ही दर्शनों में ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया गया है। इसलिए दोनों ही अपनी आचारमीमांसा में यह मानते हैं कि व्यक्ति अपनी साधना, तपस्या तथा त्याग के आधार पर देवत्व की ऊँचाई तक पहुँच सकता है। वह सर्वज्ञ हो सकता है, केवली हो सकता है। ईश्वरवाद में ईश्वर ऊपर से अवतरित होता है या उतरता है किन्तु जैन एवं बौद्ध दर्शनों में मानव कर्म के बल पर ऊपर की ओर ईश्वर की ऊँचाई तक चढ़ता है। यदि तत्त्वमीमांसा में इन दोनों दर्शनों ने ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर ली होती तो इनका मानव इतना समर्थ नहीं बन सकता था।

तत्त्वमीमांसीय आधार

साधक की अर्हता, पात्रता आदि उसकी तात्त्विक एवं मनोवैज्ञानिक संभावनाओं के संदर्भ में देखी जाती है। अतः योग की साधना में तत्त्वमीमांसीय आधार को समझना अति आवश्यक है। जैन तत्त्वमीमांसा का आधारभूत सिद्धान्त सत् या द्रव्य का विवेचन है।

सत्

जैन दर्शन में सत् 'तत्त्व द्रव्य', पदार्थ आदि शब्द लगभग एक ही अर्थ में व्यवहृत हुए देखे जाते हैं। सत् या तत्त्व (Reality) के विषय में दर्शनों में मतैक्य नहीं है। बौद्ध दर्शन में सत् को निरन्वय क्षणिक माना गया है। सांख्य के अनुसार चेतन तत्त्व रूप पुरुष कूटस्थ नित्य तथा अचेतन तत्त्व रूप प्रकृति परिणामी नित्य अर्थात् नित्यानित्य है। वेदान्त मात्र ब्रह्म को सत्य मानता है। जैन दर्शन ने तत्त्व को सापेक्षतः नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, कूटस्थ तथा परिवर्तनशील माना है। यह अनन्त धर्मों वाला होता है। इन अनन्त धर्मों में से कुछ स्थायी होते हैं, जो सदा वस्तु के साथ होते हैं। उन्हें गुण कहते हैं। कुछ धर्म ऐसे होते हैं जो बदलते रहते हैं, उन्हें पर्याय कहते हैं। सोने में सोनापन गुण तथा अँगूठी या कर्णफूल आदि बाह्यरूप पर्याय हैं। पर्याय अस्थायी होते हैं। एक पर्याय नष्ट होती है तो दूसरी पर्याय उत्पन्न

होती है। इसी आधार पर सत् को परिभाषित करते हुए उमास्वाति ने कहा है सत्, उत्पाद, व्यय या विनाश और स्थिरता युक्त होता है।^६ आगे चलकर इसे ही दूसरे रूप में परिभाषित किया गया है- 'गुण और पर्याय वाला द्रव्य है।'^७ जिसमें उत्पाद और व्यय के स्थान पर पर्याय आ गया और ध्रौव्य के स्थान पर गुण। उत्पाद और व्यय परिवर्तन का सूचक है तथा ध्रौव्य नित्यता की सूचना देता है। परन्तु उत्पाद एवं व्यय के बीच एक प्रकार की स्थिरता रहती है जो न तो कभी नष्ट होती है और न उत्पन्न ही। इस स्थिरता को ध्रौव्य एवं तद्भावाव्यय भी कहते हैं।^८ यही नित्य का लक्षण है। आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य की व्याख्या कुछ इस प्रकार की है-- जो अपरित्यक्त स्वभाव वाला है, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है, गुण और पर्याययुक्त है वही द्रव्य है।^९ यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित जान पड़ता है कि कहीं-कहीं द्रव्य और सत् को एक-दूसरे से भिन्न माना गया है। अनुयोगद्वारा सूत्र में तत्त्व को सामान्य लक्षण द्रव्य माना गया है और विशेष लक्षण के रूप में जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य माने गए हैं।^{१०} इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्य और तत्त्व कमोवेश अलग-अलग तथ्य नहीं है। इस संदर्भ में डा. मोहनलाल मेहता के विचार इस प्रकार हैं- जैन आगमों में सत् शब्द का प्रयोग द्रव्य के लक्षण के रूप में नहीं हुआ है। वहाँ द्रव्य को ही तत्त्व कहा गया है और सत् के स्वरूप का सारा वर्णन द्रव्य-वर्णन के रूप में रखा गया है।^{११}

द्रव्य के भेद

द्रव्य के वर्गीकरण को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। परन्तु प्रायः सभी विद्वान् मुख्य रूप से द्रव्य के दो भेद मानते हैं जीव और अजीव।^{१२} चैतन्य धर्मवाला जीव कहलाता है तथा उसके विपरीत धर्मवाला अजीव। इस तरह सम्पूर्ण लोक दो भागों में विभक्त हो जाता है। चैतन्य लक्षण वाले द्रव्य जीव विभाग के अंतर्गत आ जाते हैं और जिनमें चैतन्य नहीं है उनका समावेश अजीव-विभाग के अंतर्गत हो जाता है। परन्तु जीव-अजीव के भेद-प्रभेद करने पर द्रव्य के छः भेद हो जाते हैं। जीव द्रव्य अरूपी है अर्थात् जिसे इंद्रियों से न देखा जा सके वह अरूपी है, अतः जीव या आत्मा अरूपी है। अजीव के दो भेद होते हैं--रूपी और अरूपी। रूपी अजीवद्रव्य के अंतर्गत पुद्गल आ जाता है। अरूपी अजीवद्रव्य के पुनः चार भेद होते हैं--धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय, अद्वासमय (काल)। इस प्रकार

द्रव्य के कुल छः भेद हो जाते हैं--जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।^{१३} इनमें प्रथम पाँच अस्तिकाय द्रव्य कहलाते हैं तथा काल अनस्तिकाय द्रव्य कहलाता है।

जीव द्रव्य

तत्त्वार्थसूत्र में जीव का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि उपयोग जीव का लक्षण है।^{१४} उपयोग का अर्थ होता है - बोधगम्यता। अर्थात् जीव में बोधगम्यता होती है और बोधगम्यता वहीं देखी जाती है जहाँ चेतना होती है। अतः कहा जा सकता है कि चेतना जीव का लक्षण है। यदि उपयोग शब्द का व्यावहारिक लक्षण लें तो भी यही ज्ञात होता है कि चेतना जीव का लक्षण है। जिसमें चेतना नहीं होगी वह भला किसी चीज की उपयोगिता को क्या समझेगा? उपयोग में ज्ञान और दर्शन सन्निहित होते हैं।^{१५} उपयोग के दो प्रकार होते हैं--ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोग। ज्ञान सविकल्प होता है और दर्शन निर्विकल्प होता है। अतः पहले दर्शन होता है फिर इसका समाधान ज्ञान में होता है। अर्थात् विषयवस्तु क्या है? यह प्रश्न उपस्थित होता है तत्पश्चात् उसका समाधान होता है।

ज्ञानोपयोग के दो प्रकार माने गए हैं, स्वभाव ज्ञान तथा विभाव ज्ञान।^{१६} विभाव ज्ञान के पुनः दो विभाग होते हैं--सम्यक् ज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान। इसी प्रकाश दर्शनोपयोग के भी दो भेद होते हैं--स्वभावदर्शन तथा विभावदर्शन। विभावदर्शन के पुनः तीन भेद होते हैं--चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन तथा अवधिदर्शन। इसके आगे सम्यक् ज्ञान, मिथ्याज्ञान आदि के भी भेद किए गए हैं, लेकिन यहाँ उनका वर्णन करना उपयुक्त नहीं जान पड़ता।

जीव का स्वरूप

जैन मान्यता के अनुसार सभी वस्तुओं में गुण और पर्याय होते हैं। जीव में भी गुण और पर्याय होते हैं। चेतना जीव का गुण है और जीव जो विभिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है, उसके पर्याय हैं। पर्याय की विभिन्न अवस्थाएँ भाव कही जाती हैं। इन्हें जीव का स्वरूप कहते हैं। जीव के पाँच भाव।^{१७} इस प्रकार है--

औपशमिक - उपशम का अर्थ होता है दब जाना। जब सत्तागत कर्म दब जाते हैं, उनका उदय रुक जाता है और उसके फलस्वरूप जो आत्मशुद्धि होती है, वह औपशमिक भाव कहलाता है। यथापानी में मिली हुई गंदगी का बर्तन की तली में बैठ जाना।

क्षायिक - क्षय से क्षायिक बना है। कर्मों के पूर्णतः क्षय हो जाने से जो आत्मशुद्धि होती है, वह क्षायिक भाव कहलाता है। जिस प्रकार पानी से गंदगी पूर्णतः दूर हो जाती है और पानी स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों के सर्वांशतः क्षय हो जाने से आत्मा पूर्णरूपेण शुद्ध हो जाती है। उस स्थिति को क्षायिक भाव कहते हैं।

क्षायोपशमिक - क्षय और उपशम के संयोग से क्षायोपशमिक भाव बनता है। कुछ कर्मों का क्षय हो जाना तथा कुछ कर्मों का दब जाना क्षायोपशमिक भाव कहलाता है।

औदयिक - दबे हुए कर्मों का उदित हो जाना औदयिक भाव कहलाता है।

पारिणामिक - स्वाभाविक ढंग से द्रव्य के परिणमन से जो भाव बनता है, वह पारिणामिक भाव कहलाता है।

उपर्युक्त पाँचों भाव ही जीव के स्वरूप हैं। जीव के सभी पर्याय इन भावों में से किसी न किसी भाव वाले होते हैं। लेकिन पाँचों भाव सभी जीवों में एक साथ नहीं हो सकते हैं।

जीव के विभाग

जीव को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जाता है संसारी तथा मुक्त^{१५}। जो जीव शरीर धारण कर कर्मबंधन के कारण नाना योनियों में भ्रमण करता है, वह सांसारिक जीव कहलाता है और जो सभी प्रकार के कर्मबंधनों से छूट जाता है, वह मुक्त जीव कहलाता है। संसारी जीव शरीर से भिन्न नहीं होता। यथा दूध में पानी, तिल में तेल आदि ये एक से प्रतीत होते हैं ठीक वैसे ही संसारदशा में जीव और शरीर एक लगते हैं। लेकिन ये संसारी आत्माएँ कर्मबद्ध होने के कारण अनेक योनियों में परिभ्रमण करती हैं और उनका फल भोगती हैं^{१६}। मुक्त आत्माओं का इन सबसे कोई सम्बन्ध नहीं होता है। उनका शरीर, शरीरजन्य क्रिया तथा जन्म और मृत्यु कुछ भी नहीं होता। वे आत्मस्वरूप हो जाते हैं। अतएव उन्हें शत् - चित्-आनन्द कहा जाता है^{१७}।

संसारी जीव को पुनः दो भागों में विभाजित किया गया है- त्रस तथा स्थावर^{१८}। जिसमें गति होती है वह त्रस जीव कहलाता है। जिसमें गति नहीं होती है वह स्थावर जीव कहलाता है। स्थावर जीवों में जल, अग्नि, वायु, पृथ्वी तथा वनस्पति आते हैं^{१९}। इन सबमें एकेन्द्रिय स्पर्श बोध होता है। इसी तरह

त्रस जीवों के चार प्रकार होते हैं--दो इन्द्रिय वाले जीव, तीन इन्द्रिय वाले जीव, चार इन्द्रिय वाले जीव तथा पाँच इन्द्रिय वाले जीव। दो इन्द्रिय वाले जीव को स्पर्श के साथ रस का भी बोध होता है। तीन इन्द्रियप्राप्त जीवों को स्पर्श, रस तथा गंध का बोध होता है। चार इन्द्रिय वाले जीवों को स्पर्श, रस, गन्ध तथा रूप का बोध होता है। पाँच इन्द्रिय प्राप्त जीवों को स्पर्श, रस, गंध, रूप, दृष्टि तथा ध्वनि का बोध होता है। इसके अन्तर्गत मनुष्य, पशु-पक्षी, देव आदि आते हैं।

जीव के जन्मभेद

जीव की चार गतियाँ होती हैं-मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारक तथा तीन जन्म होते हैं-सम्मूर्धन, गर्भ तथा उपपात। माता-पिता के बिना ही उत्पत्तिस्थान में स्थित औदारिक पुद्गलों को पहले-पहल शरीर रूप में परिणत करना सम्मूर्धन जन्म कहलाता है। उत्पत्तिस्थान में शुक्र और शोणित पुद्गलों को पहले-पहल शरीर के लिए ग्रहण करना गर्भ जन्म कहलाता है। उत्पत्तिस्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को पहले पहल शरीर रूप में परिणत करना उपपात जन्म कहलाता है^{२०}। जरायुज, अण्डज, पोतज प्राणियों का गर्भ जन्म होता है, नारक और देवों का उपपात जन्म होता है। शेष सभी प्राणियों का सम्मूर्धन जन्म होता है।

अजीव

जिसमें बोधगम्यता, चेतना आदि का अभाव होता है वह अजीव कहलाता है। अजीव शब्द से ही प्रतीत होता है कि जो कुछ जीव में है, उसका अभाव होना। अजीव के चार प्रकार होते हैं--धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल।

धर्म - जो जीव पुद्गल आदि की गति में सहायता प्रदान करता है, उसे धर्म तत्त्व कहते हैं^{२१}। जैसे मछली पानी में स्वतः तैरती है, किन्तु पानी के अभाव में वह कदापि नहीं तैर सकती। यदि उसे उस स्थान पर रख दिया जाए। जहाँ पानी न हो तो निश्चित ही उसकी गति रुक जायेगी। पानी स्वयं मछली को तैरने के लिए तैयार नहीं करता फिर भी पानी के अभाव में मछली तैर नहीं सकती। यही गति तत्त्व है।

अधर्म--अगति तथा स्थिति में सहायक होता है^{२२}। जीव और पुद्गल जब स्थिति की दशा में पहुँचने वाले होते हैं तब अधर्म उनकी सहायता करता है। इसके बिना स्थिति नहीं हो

सकती, जिस प्रकार धर्म के बिना गति नहीं हो सकती। चलता हुआ पथिक छाया देखकर विश्राम करने लगता है। छाया पथिक को बुलाती नहीं है फिर भी छाया देखकर पथिक विश्राम करता है। इसलिए यहाँ छाया स्थिति का या अगति का कारण बनती है।

आकाश - अवगाह या अवकाश देने वाला तत्त्व आकाश कहलाता है^{२६}। इसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा काल आश्रय पाते हैं। आकाश का काम अन्य सभी को आश्रय देना है। इसके दो भाग हैं--लोकाकाश तथा अलोकाकाश। आकाश के जिस भाग में धर्म-अधर्म तथा पुण्य एवं पाप के फल होते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं और जिस भाग में धर्म-अधर्म तथा पुण्य एवं पाप के फल नहीं होते उसे अलोकाकाश कहते हैं।

पुद्गल - अन्य दर्शन जिसे भौतिक तत्त्व के नाम से पुकारते हैं, बौद्ध दर्शन जिसका प्रयोग चैतन्यिक सत्ता के लिए करता है, वह जैन दर्शन में पुद्गल कहलाता है। इसके चार धर्म होते हैं--स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण^{२७}।

स्पर्श के आठ प्रकार होते हैं -मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रूक्ष।

रस के पाँच प्रकार होते हैं--तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर और कषाय।

गन्ध के दो प्रकार होते हैं--सुरभिगन्ध तथा दुरभिगन्ध।

वर्ण के पाँच प्रकार होते हैं--नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण तथा लोहित।

काल - परिवर्तन का जो कारण हो वह अद्वासमय या काल कहलाता है। तत्त्वार्थराजवर्तिक में काल की व्याख्या दो दृष्टियों से की गई है -- व्यवहार की दृष्टि से एवं परमार्थ की दृष्टि से। प्रत्येक द्रव्य परिवर्तित होता रहता है। परिवर्तनों के होते हुए भी उसकी जाति का विनाश नहीं होता। इस प्रकार के परिवर्तन परिणाम कहलाते हैं। इन परिणामों का जो कारण है, वह काल है। यह व्यावहारिक दृष्टि से काल की व्याख्या है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य और पर्याय की प्रतिक्षण भावी स्वसत्तानुभूति वर्तना है। इस वर्तना का कारण काल है। यह काल की पारमार्थिक व्याख्या है।

कर्मसिद्धान्त

कर्मवाद का एक सामान्य नियम है--पूर्वकृत कर्मों के फल को भोगना तथा नए कर्मों का उपार्जन करना। इसी परंपरा में बँधा हुआ प्राणी जीवन व्यतीत करता है। किन्तु प्रश्न उठता है

कि कर्मवाद में कहीं पर व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता के उपयोग का भी अवसर मिलता है अथवा वह मशीन की तरह पूर्व कर्मों के फल को भोगता हुआ तथा नए कर्मबंधों को प्राप्त करता हुआ गतिशील रहता है। यदि प्राणी को कहीं कोई स्वतंत्रता न हो और वह मशीन की तरह ही कर्म के द्वारा चालित हो तब तो कर्मवाद और नियतिवाद तथा पुरुषवाद में अन्तर क्या होगा? किन्तु इच्छा-स्वातंत्र्य का जिस रूप में निरूपण जैन परंपरा में हुआ वह इस प्रकार है--

- (१) किए गए कर्मों का फल कर्ता को भोगना पड़ता है।
- (२) पूर्वकृत कर्मों के फल को वह शीघ्र या देर से भोग सकता है।
- (३) बाह्य परिस्थितियों एवं अपनी आन्तरिक शक्ति को ध्यान में रखते हुए प्राणी नये कर्मों का उपार्जन रोक सकता है।
- (४) किन्तु ऐसा भी नहीं है कि प्राणी के मन में जो आए वही करे। इन बातों से ऐसा लगता है कि कर्मवाद में इच्छा स्वातंत्र्य तो है, किन्तु सीमित है। नियतिवाद में बँधे हुए व्यक्ति की तरह कर्मवादी पूर्णरूपेण परतन्त्र नहीं होता।

कर्म का स्वरूप

जैन परंपरा में कर्म को पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड माना गया है। आचारांग सूत्र में आया है कि कर्म वह है जिसके कारण साधन तुल्य होने पर भी फल का तारतम्य अथवा अन्तर मानव जगत् में दृष्टिगत होता है। उस तारतम्य अथवा विविधता के कारण का नाम कर्म है। प्रत्येक प्राणी का सुख-दुःख तथा तत्सम्बन्धी अन्यान्य अवस्थाएँ उसके कर्म की विचित्रता एवं विविधता पर आधारित होती हैं^{२८}। सम्पूर्ण लोक कर्मवर्गणा तथा नो कर्मवर्गणा इन दोनों प्रकार के परमाणुओं से पूर्ण है। जीव अपने मन वचन और काय की प्रवृत्तियों से इन परमाणुओं को ग्रहण करता रहता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ तभी होती हैं जब जीव के साथ कर्म संबद्ध हो तथा जीव के साथ कर्म तभी संबद्ध होता है जब मन, वचन और काय की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार प्रवृत्ति से कर्म और कर्म से प्रवृत्ति की परंपरा अनादिकाल से चली आ रही है। कर्म और प्रवृत्ति के इस कार्य-कारणभाव को दृष्टि में रखते हुए पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड रूप कर्म को द्रव्यकर्म तथा राग - द्वेषादि रूप प्रवृत्तियों को भावकर्म कहा गया है। द्रव्यकर्म और भावकर्म का कार्य-कारणभाव मुर्गी और अण्डे के समान अनादि है^{२९}।

कर्मबन्ध के हेतु

आत्मा और कर्म में सम्बन्ध होता है जिसके फलस्वरूप आत्मा में परिवर्तन होता है, वही बन्ध कहलाता है। आत्मा कर्म से सम्बन्धित होता है, किन्तु क्यों दोनों के बीच संबंध स्थापित होता है? इसके लिए दर्शनों में मतभेद हैं। बौद्धदर्शन वासना या संस्कार को कर्मबन्ध का कारण बताता है? न्याय-वैशेषिक ने मिथ्याज्ञान को कर्मबन्ध का हेतु माना है। इसी तरह सांख्य ने यह माना है कि प्रकृति और पुरुष को अभिन्न समझने का ज्ञान, कर्मबन्ध बनाता है। वेदान्त दर्शन में अविद्या को कर्मबन्ध का कारण बताया गया है। जैन दर्शन में कर्मबन्ध के निम्न कारण स्वीकार किए गए हैं--

- मिथ्यात्व - अतत्त्व को तत्त्व समझना
 अविरति - दोषों में लगे रहना, उससे विरत न होना।
 प्रमाद - कर्तव्य, अकर्तव्य के विषय में असावधानी।
 कषाय - क्रोध, मान, माया, लोभ से ग्रसित रहना।
 योग - मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों का होना।

शरीर धारण करने वाला जीव ही प्रमाद और योग के कारण बन्ध में आता है। अतः प्रमाद और योग बंधन के कारण हैं। इसी तरह स्थानांग और प्रज्ञापना में कषाय यानी, क्रोध, मान, माया और लोभ को कर्मबन्ध का कारण माना गया है^{३०}।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया

लोक में सर्वत्र कर्म के पुद्गल होते हैं, ऐसी जैन दर्शन की मान्यता है। जब जीव मन, वचन और काय से किसी प्रकार की प्रवृत्ति करता है, तो उसके अनुकूल कर्म-पुद्गल उसकी ओर आकर्षित होते हैं। उसकी प्रवृत्ति में जितनी तीव्रता और मन्दता होती है, उसके अनुसार ही पुद्गलों की संख्या अधिक या कम होती है। कर्म-बन्ध भी चार प्रकार से होते हैं--

प्रदेशबन्ध - जीव के द्वारा ग्रहण किए गए कर्म-पुद्गलों का उसके साथ कर्म के रूप में बद्ध हो जाना प्रदेशबन्ध कहलाता है। इसको कर्म का निर्माणक माना गया है।

प्रकृतिबन्ध - प्रदेशबन्ध में कर्म - परमाणुओं के परिणाम पर विचार किया जाता है, किन्तु प्रकृतिबन्ध में कर्म के स्वाभावानुकूल जीव में जितने प्रकार के परिवर्तन होते हैं, उन्हें

विवेचित किया जाता है। यह स्वभाव व्यवस्था है। स्वभाव या कार्य भेद के कारण कर्मों के आठ भाग बनते हैं--ज्ञानवरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म, आयुष्य कर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म तथा अन्तरायकर्म।

स्थितिबन्ध - यह कर्म की काल-मर्यादा को इंगित करता है। कोई भी कर्म अपनी काल-मर्यादा के अनुसार ही किसी जीव के साथ रहता है। जब उसका समय समाप्त हो जाता है, तब वह जीव से अलग हो जाता है। यही कर्मबन्ध की स्थिति होती है।

अनुभागबन्ध - यह कर्मफल की व्यवस्था है। कषायों की तीव्रता और मन्दता के अनुकूल ही कर्मों के फल भी प्राप्त होते हैं। कषायों की तीव्रता से अशुभ कर्मफल अधिक एवं बलवान होते हैं। कषायों की मन्दता से शुभ कर्म फल अधिक एवं बलवान होते हैं।

कर्म बन्ध की ये चार अवस्थाएँ साथ ही होती हैं किन्तु आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए प्रदेश बन्ध को पहला स्थान दिया गया है, क्योंकि जब तक कर्म और आत्मा सम्बन्धित नहीं होंगे तब तक अन्य व्यवस्थाएँ सम्भव नहीं हो पाएगी।

कर्म की विविध अवस्थाएँ

कर्म के बन्धन, परिवर्तन, सत्ता, उदय, क्षय इत्यादि के आधार पर कर्म की ग्यारह अवस्थाएँ मानी गई हैं--

- (१) बन्धन - कर्म और आत्मा का मिलकर एकरूप हो जाना बन्धन कहा जाता है।
- (२) सत्ता - बद्ध कर्म-परमाणु उस समय तक आत्मा के साथ रहते हैं, जबतक निर्जरा या कर्मक्षय की स्थिति न आ जाए। कर्म का इस प्रकार आत्मा के साथ रहना सत्ता है।
- (३) उदय - कर्म की वह अवस्था, जब वह अपना फल देता है, उदय के नाम से जाना जाता है।
- (४) उदीरण - नियत समय से पहले कर्मफल देना उदीरण है।
- (५) उर्द्धवर्तना - कषायों की तीव्रता या मन्दता के कारण उसके फल बनते हैं, किन्तु स्थिति-विशेष के कारण फल में वृद्धि हो जाना उर्द्धवर्तना कहलाता है।

- (६) अपवर्तना - यह अवस्था उर्द्धवर्तना के विपरीत है। स्थिति-विशेष के कारण कर्मफल में कमी आ जाना अपवर्तना कहलाता है।
- (७) संक्रमण - एक प्रकार के कर्मपुद्गलों की स्थिति जब दूसरे प्रकार के कर्मपुद्गलों की स्थिति में परिवर्तित हो जाती है, तब संक्रमण काल कहलाता है।
- (८) उपशमन - कर्म की वह अवस्था जिसमें उदय तथा उदीरणा, संभव नहीं होती, उपशमन कहलाता है। उपशमन में कर्म दबा हुआ रहता है।
- (९) निधत्ति - इस अवस्था में यद्यपि उर्द्धवर्तना या अपवर्तना की असम्भावना नहीं रहती, फिर भी उदीरणा और संक्रमण का अभाव रहता है।
- (१०) निकाचन - कर्म जिस रूप में बद्ध हुआ उसी रूप में उसे अनिवार्य रूप से भोगना निकाचन कहलाता है।
- (११) अबाध - कर्मबन्ध के बाद किसी समय तक कर्मों का फल न देना अबाध समझा जाता है।

कर्मबन्ध का छूटना

कर्मबन्ध, जीव के प्रयास करने पर छूट भी जाता है। इसके लिए जैन दर्शन में रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रका प्रतिपादन किया गया है, जिसे त्रिविध योग की संज्ञा से विभूषित किया गया है। सम्यक् दर्शन सामान्यतः सात तत्त्वों^{३१} का या विशेष रूप से आत्म-अनात्म का यथार्थ बोध है। या, यों कह सकते हैं कि सात तत्त्वों के प्रति श्रद्धा का होना सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन जैन आचार व्यवस्था की आधारशिला है। सम्यक् दृष्टि, तत्त्वरुचि, तत्त्वश्रद्धा, क्रोध, विश्वास, प्रतीति, रुचि आदि इसके अनेक पर्याय हैं। बिना यथार्थ दृष्टिकोण के साधना नहीं हो सकती और वह यथार्थ दृष्टिकोण तत्त्वमीमांसा को भली प्रकार से जानने के उपरांत ही प्राप्त हो सकता है। साधक को वस्तुतत्त्व के प्रति दृष्टिकोण की यथार्थता जिन माध्यमों से प्राप्त होती है, वे दो प्रकार के हैं--(१) व्यक्ति या तो स्वयं तत्त्वसाक्षात्कार करे या (२) उन ऋषियों के कथनों का श्रवण करे जिन्होंने तत्त्वसाक्षात्कार किया है।

तत्त्वश्रद्धा तो एक विकल्प के रूप में जाना जाता है, क्योंकि वह तत्त्व साक्षात्कार का एक सोपान है। पं. सुखलाल

संघवी के शब्दों में तत्त्वश्रद्धा ही सम्यक् दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अन्तिम नहीं है, अन्तिम अर्थ तो तत्त्वसाक्षात्कार है। तत्त्वश्रद्धा तो तत्त्वसाक्षात्कार का एक सोपान है। वह सोपान दृढ़ हो तभी यथोचित पुरुषार्थ से तत्त्वसाक्षात्कार होता है^{३२}। इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि बिना सम्यक् दर्शन के सम्यक् ज्ञान नहीं होता और सम्यक् ज्ञान के अभाव में सदाचार नहीं आता और सदाचार के अभाव में कर्मावरण से मुक्ति संभव नहीं होती तथा कर्मावरण से जकड़े प्राणी का निर्वाण नहीं होता^{३३}। सदाचरण एवं असदाचरण का निर्धारण कर्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। भले ही व्यक्ति विद्वान् है, भाग्यवान है, पराक्रामी भी है, लेकिन उसका दृष्टिकोण असम्यक् है तो उसका दान, तप आदि समस्त पुरुषार्थ फलाकांक्षा होने से अशुद्ध ही होगा। वह उसे मुक्ति की ओर न अग्रसर करके बन्धन की ओर प्रेरित करेगा, क्योंकि असम्यक्दर्शी होने के कारण वह सराग दृष्टिवाला होगा और आसक्ति या फलाशा से निष्पन्न होने के कारण उसके सभी कार्य सकाम होंगे और सकाम होने से उसके बंधन के कारण होंगे। अतः असम्यक्दृष्टि का सारा पुरुषार्थ अशुद्ध हो जाएगा, क्योंकि वह उसकी मुक्ति में बाधक होगा। लेकिन इसके विपरीत सम्यक् दृष्टि या वीतराग दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति के सभी कार्य फलाशा से रहित होने से शुद्ध होंगे^{३४}।

अतः सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र रूपी त्रिविध योग के द्वारा जीव कर्मों का क्षय करता है। और मोक्ष की उपलब्धि करता है। कर्मबन्ध की दो स्थितियाँ होती हैं आस्रव और बंध। कर्मपुद्गलों का जीव के पास आना आस्रव है तथा जीव को प्रभावित कर देना बन्धन है। किन्तु इसके बाद की दो स्थितियाँ मोक्ष से सम्बन्धित हैं - संवर और निर्जरा। जो रत्नत्रय के आधार जीव में आते हुए नए कर्मों को रोकता है। उसे संवर कहते हैं और आए हुए कर्मों को भोगकर समाप्त करना अर्थात् क्षय करना निर्जरा कहलाती है। जीव इस अवस्था में कैवल्य प्राप्त करके सर्वज्ञ हो जाता है। यह जीवन की अवस्था है। इस अवस्था में कुछ कर्म रह जाते हैं जिनके कारण जीव का शरीर उसके साथ रहता है। जब शरीर भी नष्ट हो जाता है तब जीव विदेह - मुक्त या पूर्णमुक्त हो जाता है। उसका कर्म से सम्बन्ध सदा-सदा के लिए छूट जाता है।

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। जो अनादि होता है उसका अन्त नहीं होता। फिर कर्मबंध

से आत्मा किस प्रकार छूटता है, इस समस्या का समाधान करते हुए मुनि नथमल कहते हैं--अनादि का अंत नहीं होता यह सामुदायिक नियम है और जाति से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति विशेष पर लागू नहीं होता। प्राग्भाव अनादि है, फिर भी उसका अन्त होता है। स्वर्ण और मृत्तिका, घी और दूध का संबंध अनादि है फिर भी वे पृथक् होते हैं। ऐसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सम्बन्ध का अंत होता है, परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि इसका सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा अनादि है, व्यक्तिशः नहीं।

इस तरह जैन चिन्तकों ने जीव और अजीव इन दो मौलिक तत्त्वों के बीच संबंध माना है। यही सम्बन्ध जीव का और उसके अनन्त चतुष्टयरूप रूप का घात करते हैं। फलतः वह बन्धन में आ जाता है। कर्म पुद्गल से युक्त जीव मनसा, वाचा, काया कर्मणा करते हैं और निरंतर कर्मपुद्गलों का बन्धन करते रहते हैं। योग के द्वारा इस संबंध की प्रक्रिया को रोककर पुनः शुद्ध मन को प्राप्त किया जा सकता है। कर्मबंध को रोकना एवं कर्मक्षय की प्रक्रिया को अपनाना तभी सम्भव है, जब व्यक्ति उपर्युक्त अवधारणों को भली भाँति समझ सके।

सन्दर्भ

१. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
२. आचारांगसूत्र-- आत्मारामजी , प्रथम श्रुतस्कंध, चतुर्थ अध्ययन, उद्देशक १।
सूत्रकृतांग-संपा-पं.अ. ओझा, प्रथम श्रुतस्कंध, तृतीय खण्ड, अध्ययन ११। प्रथम खण्ड, गाथा ९-१०।
३. भारतीय दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त, डा. बी.एन. सिन्हा, पृ. ११८।
४. चूलमालुक्यसुत्त ६३, मज्झिम निकाय (अनु.) पृ. २५१-५३।
५. पोट्टपाद सुत्त - १/९, दीर्घनिकाय (अनु.) पृ. ७१।
६. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । तत्त्वार्थसूत्र ५/२९।
७. गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। वही ५/३७
८. सद्भावाव्ययं नित्यम्। वही ५/३०

९. अपरिच्यतसहावेणुप्या दव्वधुवक्तसंजुत्तं। गुणवं च सपज्जायं, ते तं दव्वं ति बुच्चंति। प्रवचनसार - २/३१
१०. अविसेसिए दव्वे, विसेसिए जीव दव्वे य। अनुयोगद्वार - १२३।
११. जैन-धर्म-दर्शन- डा. मोहनलाल मेहता, पृ. १२०
१२. विसेसिए जीवदव्वे अजीव दव्वे य। अनुयोगद्वार-सूत्र १२३।
१३. भगवती-सूत्र १५/२/४
१४. तत्त्वार्थसूत्र १५/२/४
१५. वही २/९
१६. णाणुवओगो दुविहो, सहावणाणं विभावणाणंति। नियमसार १०
१७. औपशामिवकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च। तत्त्वार्थ सूत्र - २/१
१८. संसारिणो मुक्ताश्च। वही २/१०
१९. आत्मरहस्य--रतनलाल जैन, पृ. ३०
२०. जैन दर्शनः मनन और मीमांसा-मुनि नथमल, पृ. २५२
२१. संसारिणस्त्रसस्थावरा। तत्त्वार्थ २/१२
२२. स्याद्वादमञ्जरी-२०, षड्दर्शनसमुच्चय (गुणरत्न की टीका) ४९
२३. तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलाल संघवी) पृ. ६७
२४. तत्त्वार्थ राजवर्तिक ५/१/१९
२५. नियमसार-३०
२६. आकाशस्यावगाहः। तत्त्वार्थसूत्र ५/१८
२७. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः। वही ५/२३
२८. भगवतीसूत्र १२/५/४
२९. जैन-धर्म-दर्शन, डा. मोहनलाल मेहता, पृ. ४४५
३०. स्थानांग ४/९२
३१. जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षा
३२. जैन धर्म के प्राण, पृ. २४
३३. उत्तराध्ययन २८/३०
३४. जैन बौद्ध और गीता का साधना-मार्ग, डा. सागरमल जैन, पृ. ५२